❑ जतनलाल रामपुरिया

और फिर?

बिलकुल इस क्षण तक मेरी कल्पना में बच्चे थे। उन्हें ही सम्बोधित करने की चाह लिये मैं ये पंक्तियाँ लिखने बैठा। पर इसी बीच मेरी छः वर्षीया दौहित्री समता आई और मेरे पास बैठकर बातें करने लगी। बड़ी सीधी-सरल बच्ची है। उच्छृंखलता का नाम भी नहीं। उसके चचेरे भाई को सब 'चीनू' कहकर बुलाते हैं। वह समता से एक-दो वर्ष बड़ा है, कुछ चंचल भी। मैंने समता से पूछा– ''चीनू तुम्हें मारता है क्या?'' वह बोली– ''कभी-कभी मार देता है।'' मैंने पूछा– ''क्यों?'' उसने जो जवाब दिया वह मेरे लिये बच्चों के निर्मल-निर्विकार अन्तःकरण का साक्षात् दर्शन था। उसने कहा– ''कोई-कोई समय मुझसे भूल हो जाती है।'' मैं अचानक जैसे गहरी नींद से जागा – कहाँ ओसकणों की पवित्रता लिये ये बच्चे जिन्हें हम अबोध कहते हैं और कहाँ अहं और आग्रह में आकंठ डूबे हम! बच्चों के इस अन्तःस्वरूप पर जब दृष्टि पड़ी तो मेरा मन कुछ उलझ-उलझ गया। उन्हें कुछ कहने से पूर्व ही मेरे विचारों ने करवट बदल ली।

प्रकृति के वरदान अनन्त हैं, उतने ही उनके रूप भी। पर बच्चों से बढ़कर वह भी और कौन-सा उपहार हमें दे। पक्षियों का कलरव जिनकी भाषा है और परियों का देश जिनका स्वप्नलोक, जो हमारे मन में इन्द्रधनुष के रंग बिखेरते हैं और आँगन में फूलों की मुस्कान, जिनकी हर श्वास मलयज का झोंका है और हर किलकारी निर्झर का संगीत – उन बच्चों से बढ़कर, सच ही, और किस चीज की कल्पना हम करें?

बच्चे सृष्टि की अनन्यतम कृति हैं – निर्विकार वृत्तियाँ, निश्छल आचरण, निष्कलुष मन। सहज, सरल और प्रकृतिगत। भीतर और बाहर समरूप। न कोई मुखौटा, न आडम्बर, न औपचारिकता। सब कुछ अनावृत और निरावरण। लड़े, झगड़ें, रूठें पर दूसरे ही क्षण फिर वही आत्मीयता। मलिनता मन को छुये ही नहीं। **खामेमि सव्वजीवे** - क्षमादान और क्षमायाचना के शब्द ओंठों पर नहीं, अन्तर ही उनसे आप्लावित। अध्यात्म का हर पाठ तो इनके स्वभाव में है। फिर कौन-सा ज्ञान इन्हें दें? बल्कि इनसे तो हम ही कुछ सीखें। उपदेशों की आवश्यकता तो यथार्थ में बड़ों को है। तो थोड़ा अपनी ओर मुड़ें। यह मुहूर्त्त सचमुच कुछ देर थमने का है, एक चिर-उपेक्षित प्रश्न का समाधान पा लेने का है – बच्चे बड़े होकर क्यों उन विकारों से ग्रस्त होते हैं जिनसे यह धरती त्रस्त है?

जीव के बारे में बतला रहा व्यक्ति अनजाने ही अजीव की व्याख्या कर रहा होता है। पुण्य के विश्लेषण में पाप की परिभाषा छिपी रहती है। आश्रव (कर्म-ग्रहण) का ज्ञान निर्जरा (कर्म-क्षय) की प्रक्रिया है। बंध और मोक्ष भी एक दूसरे की परिक्रमा करते हैं और यहाँ भी देखिये, बच्चों से प्रारम्भ हुई बात अनायास ही मुझे बड़ों के पास ले आई; सप्रयास स्वयं तक पहुँचने का उपक्रम तो सब उपलब्धियों का प्रथम सोपान है ही।

सप्रयास स्वयं तक पहुँचने का उपक्रम! दो शब्दों का संदेश भगवान महावीर का – **तिन्नाणं तारयाणं।** पहले स्वयं तिरो, फिर दूसरों को तारो। स्वयं को तारना सार्थक जीवन की वर्णमाला के पहले अक्षर हैं। दूसरों का तारना तो उसकी अंतिम पंक्ति है। पर विडम्बना ऐसी कि हम अन्तिम पंक्ति से ही अपनी वर्णमाला शुरु करते हैं। यह क्षण इस क्रम को बदलने का है; उपदेशों की जगह आचरण को मुखरित करने का है; कुछ विवेकशील व्यक्तियों के चिंतन की गहराई में उतरने का है।

तो आगे बढ़ें अब!

❋

मेरे दादाजी श्री पूनमचंदजी रामपुरिया – हिम्मत के धनी, पुरुषार्थ के प्रतीक, प्रत्युत्पन्नमति और दूरदर्शी। उस समय की बात जब राजस्थान के बहुत से घरों में गाय-भैंस होती थीं। हमारे घर में भी थीं। अधिकांश परिवार कलकत्ता में रहता था। महीने-दो-महीने बाद घर का घी कलकत्ता भेजा जाता था। कुछ घी इकट्ठा हुआ। दादाजी ठाकुर रामसिंहजी को इसे पैक करने का कह कर संतों का व्याख्यान सुनने चले गये। रामसिंहजी डालडा घी का एक खाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डिब्बा खरीद लाए और उसमें घर वाला घी भर कर उसे सील कर दिया। दादाजी घर लौटे। डालडा का टिन सामने ही पड़ा था। चेहरे पर क्रोध के भाव उभरे – ''डालडा कौन लाया घर में?'' रामसिंहजी बोले – ''डालडा नहीं है। उसके खाली टिन में कलकत्ता भेजने के लिये मैंने घर वाला घी पैक किया है।'' आदेश मिला – ''घी को निकाल कर दूसरे डिब्बे में पैक करिये और डालडा के टिन को बाहर फेंक दीजिए। आगे से वनस्पति घी का खाली टिन भी कभी घर में न लायें।'' बाहर गिराया गया वह तिरस्कृत टिन अपने अनादर से कितना क्षुब्ध हुआ, मैंने नहीं देखा, पर दादाजी का गलत चीजों के प्रति किंचित भी ममत्व न रखने का संकल्प – मेरे अन्तर में उस दिन जैसे एक दीप जला।

*

मेरे अग्रज श्री ताराचन्दजी १२-१३ वर्ष के रहे होंगे और मैं १०-११ वर्ष का। चार आने में एक फिल्मी गानों की पुस्तक खरीद लाये। पिताजी (श्रीचन्दजी रामपुरिया) की दृष्टि उस पर पड़ी। पुस्तक हाथ में ली और बोले – ''मैं तुम्हें अच्छी-अच्छी कहानियों की पुस्तकें ला दूँगा। सिनेमा की पुस्तकें मत पढ़ा करो।'' मुँह से बस इतना ही। फिर हाथ गतिशील हुए। दूसरे ही क्षण हमने विस्फारित आँखों से पुस्तक के चार टुकड़े होते देखे और तीसरे क्षण वह खिड़की की राह से सड़क पर पहुँच चुकी थी। चार आने भी उस समय हम बच्चों के लिये धन था। उधर 'चन्द्रलेखा' के गानों को कण्ठस्थ करने की धुन थी। धन और धुन – दोनों की साथ ही धुनाई हो गई। घर के बाहर फेंकी गई वह तिरस्कृत पुस्तक अपने अनादर से कितनी क्षुब्ध हुई, मैंने नहीं देखा, पर गलत प्रवृत्तियों को प्रश्रय न देने का पिताजी का संकल्प – मेरे अन्तर में उस दिन फिर एक दीप जला।

*

३१ मार्च, १९६९ - चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन पूज्या माँ का देहान्त हुआ। दिसम्बर सन् १९६३ में उन्हें हृदय का दौरा पड़ा था। तब से उनका स्वास्थ्य सदा चिन्तनीय स्थिति में ही रहा। उससे पूर्व भी उन्होंने अस्थमा, गठिया आदि शारीरिक व्याधियाँ बहुत झेलीं। संयुक्त परिवार के कारण गृहकार्य ने भी उन्हें सदा व्यस्त रखा। फिर भी बच्चों के लालन-पालन और उनकी सुख-सुविधाओं के प्रति वे सदा अत्यन्त सजग रहीं।

सुबह का नाश्ता और दोनों समय का खाना वे हम सब भाइयों को स्वयं पास बैठ कर खिलातीं। व्यापार-व्यवसाय सम्बन्धित काम-काज के अपने आग्रह होते हैं। घर पहुँचने में हमें देर-सबेर भी होती मगर वे हमारी प्रतीक्षा करती रहतीं। न हमें उनके हाथ से खाये बिना चैन मिलता न उन्हें खिलाये बिना। यह क्रम उनकी मृत्यु के कुछ दिन पूर्व तक रहा।

एक दिन माँ के हाथ से मेरी थाली में चावल कुछ ज्यादा गिर गये। मैंने कहा – ''माँ, आपने चावल आज ज्यादा परोस दिये।'' वे जानती थी कि जूठा छोड़ना मुझे अप्रिय है और, इच्छा से या अनिच्छा से, मैं पूरे चावल खा लूँगा। कुछ बोली नहीं। जब उन्हें लगा कि जितने चावल मुझे खाने चाहिये उतने मैं खा चुका हूँ तो पास रखी गिलास हाथ में ली और बचे हुए चावलों पर पानी उड़ेल दिया।

अतिभोजन हानिकारक होता है – पाँचवीं या छठी कक्षा के पाठ्यक्रम में शामिल स्वास्थ्य-विज्ञान की पुस्तक में यह बात पढ़ी मैंने थी, गुना उसे माँ ने। शिक्षा और ज्ञान दो नितान्त भिन्न स्थितियाँ हैं – देह और विदेह की तरह – पहली बार मुझे यह भान हुआ। समझा-बुझाकर अथवा डाँट-डपटकर थाली में आया भोजन निगलवा देने की परम्परा सदियों पुरानी है। अन्य कई अनिष्टकारी रुढ़ियों और रीति-रिवाजों की तरह उसमें छिपे अनर्थ को भी माँ ने देखा और विवेकपूर्वक स्वयं को उस प्रवाह से मुक्त रखा। थाली में पड़े वे तिरस्कृत चावल अपने अनादर से कितने क्षुब्ध हुए, मैंने नहीं देखा, पर गलत परम्पराओं को पोषण न देने का माँ का संकल्प – मेरे अन्तर में उस दिन और एक दीप जला।

* * *

मेरे दादाजी, मेरे पिताजी और मेरी माँ। गलत चीजों के प्रति ममत्व न रखने का संकल्प, गलत प्रवृत्तियों को प्रश्रय न देने का संकल्प, गलत परम्पराओं को पोषण न देने का संकल्प! बड़े सब इसी तरह बच्चों के मन में दीप जलाते रहें, जलाते रहें। और फिर? फिर दीप से दीप जलते रहेंगे, जलते रहेंगे।

फिर तो दीप से दीप जलते रहेंगे।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org